



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2024; 10(5): 89-90

© 2024 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 27-07-2024

Accepted: 02-09-2024

भारवाडिया हर्षा सीदाभाई

संस्कृत शोधछात्रा, महाराजा कृष्णकुमारसिंहजी, भावनगर युनिवर्सिटी, भावनगर, गुजरात, भारत

श्री आचार्य विजय में निर्दिष्ट भक्ति एवं प्रपति का स्वरूप

भारवाडिया हर्षा सीदाभाई

सारांश

प्रपति, एक आध्यात्मिक स्थिति है, जिसमें भक्त अपनी संपूर्णता से भगवान के प्रति समर्पित हो जाता है। रामानंदाचार्य जी ने श्रीआचार्यविजय के द्वात्रिंशत्तम परिच्छेद में इसे स्पष्ट किया है, जहाँ भक्त का भाव होता है कि वह केवल भगवान का कृपा पात्र है। भक्ति की यह चरम अवस्था नितिनियमों से मुक्त है और इसमें केवल प्रभुमय होना और उनकी कृपा प्राप्त करना आवश्यक है। इस लेख में, प्रंचंजप के छह प्रकारों का वर्णन किया गया है, जिनमें आनुकूल्य, प्रतिकूलत्व परित्याग, रक्षयिष्यति इति विश्वास, रक्षकत्व वरण, सफलमिदं भगवत एव न ममेति समर्पण, और स्वात्मनि दीनत्व भावना शामिल हैं। इन तत्वों के माध्यम से, भक्त का समर्पण और विश्वास स्पष्ट होता है, जो उसे भगवान के निकट ले जाता है।

कूट शब्द: प्रपति, भक्ति, रामानंदाचार्य, समर्पण, आध्यात्मिकता, भगवान

प्रस्तावना

भक्ति का अर्थ और स्वरूप

भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम' धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से बना है। यद्यपि क्तिन् प्रत्यय भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है। भजनं भक्ति, भज्यते अनया इति भक्ति। आदि प्रकार से इस शब्द की व्युत्पत्तिया की जा सकती है। भज धातु के अनेक अर्थ हैं। हिन्दी शब्दसागर में भक्ति के भजन, विश्वास, आराधना, आश्रित होना, सुश्रुषा, पूजा, अर्चना, श्रद्धा, आराध्य देव का नाम जपना अपने आराध्य देव का निरन्तर स्मरण करना इत्यादि अर्थ दिये गये हैं।¹

"श्रीमद्भगवद् गीता में ईष्ट के प्रति एकनिष्ठ भाव को हि भक्ति माना गया है।"²

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"³ विशेषतरु भक्ति शब्द का प्रयोग इश्वर से प्रेम या अनुराग के अर्थ में किया जाता है।

वैदिक काल से लेकर आज तक भक्ति के विभिन्न रूप हमारे सामने आते रहे हैं। भारतीय ज्ञाननिधि समान वेदों को ज्ञान और कर्म के साथ दृ साथ भक्ति का भी उद्गम स्थान माना जाता है। उपनिषदों में भी भक्ति के महत्व का वर्णन करते हुए कहा है कि

यस्य देव परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।

तस्येतै कथिता ह्यथारू प्रकाशन्ते महात्मन।।

— श्वेताश्वतरोपनिषद् दृ 3/23

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेमाभक्ति युक्त ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ बताते हुए कहा है। कि —

तेषां ज्ञान्त नित्ययुक्त एक भक्ति विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यथेमहं स च मम प्रिया।।

— श्रीमद्भगवद्गीता 7/17

स्वामी रामानंदाचार्यजी ने 'श्रीआचार्यविजय' में भक्ति विषयक अपना मत प्रदर्शित करते हुए कहा है कि — "भक्ति मनुष्य के अंतर की निधि है" बहार की नहीं।

Corresponding Author:

भारवाडिया हर्षा सीदाभाई

संस्कृत शोधछात्रा, महाराजा कृष्णकुमारसिंहजी, भावनगर युनिवर्सिटी, भावनगर, गुजरात, भारत

श्रीआचार्यविजय में भक्ति के दो प्रकारों की बात की गई है। (1) सगुण और (2) निर्गुण।

(1) सगुणभक्ति

सगुणा भक्ति के बारे में उन्होंने कहा है कि दृ "जिसमें स्वार्थपरक गुणों का संसर्ग होता है अर्थात् यश की कामना, पुत्रप्राप्ति, सुखप्राप्ति, इन कामनाओं के स्वार्थ लाभ के लिये हि जिव भक्ति या भजन करता है वह सगुणा भक्ति कही जाती है।"⁴

(2) निर्गुणभक्ति

"लौकिक या अलौकिक सुखों की कामना से रहित स्नेहरूप भक्ति को निर्गुण भक्ति कही जाती है।"⁵

रामानंदाचार्यजी ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन सब को भक्ति के साधन माने हैं। इनमें से किसी एक साधन सिद्धि से भी ईश्वर प्राप्ति रूप अभिष्ट फल प्राप्त हो सकता है।

प्रपति का स्वरूप

सामान्य रूप से जब 'प्रपति' की बात आती है तो जनसाधारण को यह भ्रम होता है कि 'प्रपति' भक्ति से भिन्न एवं नूतन कोई वस्तु है। लेकिन रामानंदाचार्य जी ने स्पष्टरूप से श्रीआचार्यविजय के द्वात्रिंशत्तम परिच्छेद में कहा है कि "अपने उपास्य में पूर्ण एवं सर्वस्व समर्पण करते हुए अपने आपको उन उपास्य देव या देवी के आधीन कर देना ही प्रपति है। लौकिक और अलौकिक पदार्थों एवं उनसे उत्पन्न होने वाली सभी तरह की एषणाओं का अपने इष्ट में समर्पण ही प्रपति है।"

जब भक्त में ऐसा भाव प्रगट होता है कि मैं भगवान की शरण में हूँ वही मेरे शरण्य है। मैं कुछ नहीं हूँ, केवल निस्साधन, निर्धन, दीन, एवं उनकी कृपा का पात्र हूँ। ऐसी चरम साधन रूप भक्ति की सर्वश्रेष्ठवस्था को ही प्रपति कहते हैं। भक्ति की सिद्धावस्था को ही प्रपति कहा गया है।⁶

प्रपति में किसी भी प्रकार के नितिनियमों का पालन या साधन की आवश्यकता नहीं है। प्रपति में केवल प्रभुमय होना उनकी कृपा प्राप्त करना ही सबकुछ है। इसी बात को गीता में कहा है कि दृ "हे अर्जुन, तु सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा।"

प्रपति के प्रकार

श्रीआचार्यविजय में प्रपति के छः प्रकार बताये गये हैं।⁸

"आनुकूल्यस्य संकल्परूप प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासरूप गोप्तृत्व वरणं तथा आत्मनिक्षेपकार्यन्ते, षड्विध्या शरणागतिरु।।"

(1) आनुकूल्यम्

आनुकूल्यम् का अर्थ है अनुकूलता। प्रपति के इस प्रथम अंग में देश, काल, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार आने वाले सुख, दुःख, हर्ष, शोक एवं मोहादि से विचलित न होकर उसे भगवदिच्छा ही मानकर प्रतिकूल परिस्थिति को सहते हुए भी मन, कर्म एवं वचन से भगवान के साक्षात् आज्ञास्वरूप वेद स्मृति, पुराणादि वाक्यों का पालन करते रहना ही अनुकूलता है।

जब मनुष्य जीवन में आने वाले सुख, दुःख, मरण, लाभ, हानि, यश, अपयश, मान, अपमान और स्वभाव, आदि से जो भी कर्म होते हैं उन सब को केवल ईश्वरेच्छा मानना, भगवान की इच्छा से ही सारी परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं और शुभाशुभ कर्म होते हैं यह मानकर अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में भी विचलित न होते हुए, चाहे कितने भी कष्ट हो, चाहे सुख हो, सभी प्रकार की स्थिति में शास्त्रानुकूल कर्म करना ही प्रपति का प्रथम अंग है।

(2) प्रतिकूलत्वपरित्याग

प्रपति का दूसरा अंग है प्रतिकूल वस्तुओं, व्यक्तियों तथा परिस्थितियों का परित्याग करना। जैसे कि काम, क्रोध आदि छः

शत्रु जो देश, काल एवं स्वभाव से उत्पन्न हैं, इसके उपरांत यदि धन, पुत्र, पत्नि आदि भी यदि भगवद भक्ति में बाधक बने विघ्न पैदा करे तो उसे भी भगवद भक्ति में प्रतिकूल कर्म मानकर उसका त्याग कर देना चाहिए।

(3) रक्षयिष्यति इति विश्वास

प्रपति का तीसरा अंग है भगवान को रक्षक मानकर उसमें पूर्ण विश्वास रखना की वह हमारी रक्षा करेंगे। स्वयं को भगवान के आधीन मानना, भगवान में ऐसा विश्वास रखना की वह ही मेरे लिए परम एवं सर्वश्रेष्ठ बल है। वे प्रभु हर परिस्थिति में मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। जब मनुष्य पुत्र, पत्नी, धन या प्राणों की भी परवाह किये बिना भगवान की शरण में जाता है तो भला भगवान उसे कैसे छोड़ सकते हैं वह उसकी रक्षा अवश्य करते हैं।

(4) रक्षकत्व वरणम्

अपनी रक्षा के लिये एक मात्र भगवान का ही वरण (चुनाव) करना। जब अन्य सभी का आश्रय छोड़कर केवल भगवान का आश्रय ग्रहण कर उन्हें अपना रक्षक बनाते हुए मनुष्य कहता है कि हे प्रभु। मेरे माता, पिता, पुत्र, पत्नी, सखा, परिवार, कोई भी मेरा साथी नहीं है जो विपत्ति से मेरी रक्षा कर सके। अतरु हे भगवान, आप ही मेरी रक्षा कीजिये।

इस संसार सागर की तरल तरंगों के थपेड़ों से मैं बहुत अधिक ताड़ित एवं प्रताड़ित हूँ। प्रभु मेरी रक्षा करें। आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरा रक्षक नहीं है। इस प्रकार से अपनी रक्षा के लिए एक मात्र भगवान का आवाहन करना ही रक्षकत्व वरण है।

(5) सफलमिदं भगवत एव न ममेति समर्पणम् स्वात्मनोऽपि।

प्रपति का पाँचवा अंग है सबकुछ भगवान को समर्पित कर देना। यह सबकुछ जो है वह भगवान का ही है। मेरा कुछ नहीं है इस भाव से सभी पदार्थों और स्वयं अपने आप को भी भगवान को समर्पण कर देना।

मनुष्य का भगवान के प्रति ऐसा भाव रखना की इस संसार में मुझे जो भी वस्तु मिली है वह सब आपकी ही दी हुई है। मेरा देह, प्राण, घर, संपत्ति, गौरव, प्रतिष्ठा आदि सब जो मैंने मेरा मान लिया है वह वास्तव में आपका ही दिया हुआ है और मैं आप को ही समर्पित कर रहा हूँ।

(6) स्वात्मनि दीनत्वभावना

प्रपति का छठा अंग है कार्यव्य दृ अपने में दीनत्व भावना कि हे नाथ। मैं दीन और सर्वथा हीन हूँ, मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ। मैं काम, क्रोध, मायादि से युक्त द्रोही हूँ। अपने आप को सर्वसाधनों से हिन एवं कृपण मानते हुए भगवान की चरण शरण में जाना सर्वथा शुद्धात्मा से सर्वथा दीन हीन साधन विहिन भगवान के आधीन हो जाने से ही शरणागति यानि प्रपति सिद्ध हो जाती है।

यह शरणागति यानी प्रपति भी अधिकारी भेद से राजसी, तामसी, सात्विकी एवं त्रिगुणमयी तथा शारिरिका ही तिन भेदों से भी कहे प्रकार की होती है किन्तु पहले बताये गये नियमानुसार जब शुद्ध भावनात्मक प्रपति सिद्ध हो जाती है तब ये सारे भेद अप्रधान (नगण्य) हो जाते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. हिंदी शब्दसागर खंड दृ पांचवा खंड, पृ. नं. 2532, सम्पादकरु श्यामसुन्दरदास
2. श्रीमद भगवद गीता अध्याय 12, भक्ति योग, श्लोक 2, 6, 8, 9, 20
3. नारदभक्ति दर्शन, पृ. 40, सूत्र दृ 2
4. आचार्यविजय, पृ. 279
5. आचार्यविजय, पृ. वही
6. आचार्यविजय, पृ. 285
7. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18:66।।
8. आचार्यविजय, पृ. 286